* ओ३म् *

आध्यात्मिक ज्ञान सुधा

उपनिषदों का रहस्य

ईशोपनिषद्

लेखकः—

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज

प्रधान अखिल भारतीय सार्वदेशिक

आर्य प्रतिनिधि सभा

सम्वत् १९८४

द्वितीय संस्करण २६००

मूल्य ।)

मुद्रक:—
बा० शिवकृपाल
विद्या प्रिंटिंग प्रेस, मेरठ

1931-32

1st Prize

Awarded to Daya Nand
for
Standing 1st in Class VI

[illegible]
Principal

प्रकाशक:—
विद्याधर B. A.
३३५, मुट्ठीगञ्ज–इलाहाबा

प्रारम्भिक वक्तव्य

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज द्वारा की उपनिषदों की कथाओं से विभिन्न नगरों में सहस्रों नारियों ने जो आध्यात्मिक लाभ उठाया है उसके कहने आवश्यकता नहीं। अनेक आत्माओं ने उस आध्या- झरने में स्नान करके अपने को कृतकृत्य किया है।

इस पुस्तक का पहला संस्करण जिसको श्री धर्म्मेन्द्र नाथ शास्त्री, तर्क शिरोमणि, M. A., M. O. M. R. A. S, भूत पूर्व सम्पादक "प्रभात" मेरठ निकाला था, समाप्त होगया। अंग्रेज़ी भाषा में भी "उप- द् रहस्य" का अनुवाद मैंने प्रकाशित किया था, उसकी प्रथम आवृत्ति लगभग समाप्त हो चुकी है। इससे यह प्रगट होती है कि पुस्तक कितनी रोचक है तथा मनुष्यों अन्दर किस प्रकार आध्यात्मिक पिपासा विद्यमान है।

अब इस द्वितीय संस्करण में श्री स्वामी जी ने पुस्तक
संशोधन करके व्याख्या में अनेक स्थानों पर वृद्धि
है जिससे कि पुस्तक की उपयोगिता और भी अधि
गई है ।

६०० प्रतियों से अधिक पुस्तकें प्रतिष्ठित दानी
सज्जनों को उपहार रूप में समर्पित की जावेंगी, इतना
हुये भी इस पुस्तक का मूल्य केवल प्रचार की दृष्टि से
रक्खा गया है । आशा है कि जनता इसे अपना
अधिक लाभ उठावेगी और मुझे कृतार्थ करेगी ।

३३५, मुट्ठीगंज
इलाहबाद सिटी
१—१०—२७

विद्याधर बी०
प्रकाशक



* ओ३म् *

द्वितीय संस्करण
की
भूमिका

मैं यह अनुमान भी नहीं कर सकता था कि इस संक्षिप्त ी उपनिषद् व्याख्या का, न केवल अंग्रेज़ी संस्करण अपितु ाषा में भी दूसरा संस्करण निकालने की ज़रूरत पड़ेगी। ससे यह बात तो स्पष्ट ही है कि अब भी ऋषि मुनियों के छोड़े हुये साहित्य का दुनिया में कम मान नहीं है— इस संस्करण में अनेक स्थल पर वृद्धि की गई है और पाठक खेंगे कि उस वृद्धि से व्याख्या की उपयोगिता कुछ न कुछ ढ़ ही गई है। जो हो मैं कृतज्ञता प्रकाश करते हुये इस दूसरे संस्करण को उदार पाठकों के सामने रखता हूं।

रामगढ़
ाद्रपद शुक्ला ५
सं० १९८४ वि०

नारायण स्वामी

उपोद्‌घात

उपनिषद् भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् है। उपनिषद् में जो शिक्षायें दी गई हैं, उनको वेद अथवा उपनिषद् की शिक्षा का सार कह सकते हैं। और इन्हीं शिक्षाओं का विस्तार पश्चात् की उपनिषदों में किया गया है। उदाहरण की रीति से ईशोपनिषद् की एक शिक्षा है- "नैनद्देवा आप्नुवन्" [देखो मन्त्र ४] अर्थात् 'इन्द्रियों से ईश्वर प्राप्तव्य नहीं है। बाद को सम्पूर्ण दूसरी [केन] उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार किया गया है। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ४० वां अध्याय है। अन्त में थोड़ा सा अन्तर अवश्य वेद और उपनिषद् के पाठ में है परन्तु उससे आशय का भेद नहीं होता। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा [ब्रह्म विद्या] वेद मूलक है। और भी अनेक स्थलों पर वेदों में ब्रह्मविद्या की शिक्षा का मूल पाया जाता है, उदाहरण की रीति से देखो निम्न वाक्यः—

"वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहामत्" ॥१॥ यजुर्वेद (३२। ८)

अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदय) में देखता है।

आत्मनात्मानमभिसंविवेश ॥२॥ (यजुर्वेद ३२। ११

अर्थात् आत्मा से आत्मा (ब्रह्म) में प्रवेश करता है। इस प्रकार की अनेक शिक्षाएं चारों वेदों में फैली हुई पाई जाती हैं। जब हम इस प्रकार ब्रह्म (परा विद्या को

भी वेद मूलक कहते हैं तब स्वाभाविक रीति से ह
सम्मुख मुण्डकोपनिषद् का प्रारंभिक वाक्य (देखो १।१
आता है जिस में वेद और वेदाङ्गों की गणना अपरा वि
में की गई है यदि ब्रह्म (परा) विद्या भी वेद मूलक है
वेदों को 'अपरा' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर स्प
कि वेद केवल परा विद्या का पुस्तक नहीं है-वेद में
(ब्रह्म) और अपरा (लोक) दोनों प्रकार की विद्याओं
समावेश है। दोनों शिक्षाओं के सम्मिलित होने से
केवल (ब्रह्म) परा विद्या का पुस्तक नहीं कह सकते।
लिये उनकी गणना केवल परा विद्या में नहीं की गई
अस्तु, ब्रह्म विद्या के वेद मूलक होने में किसी को वि
परन्तु करने की ज़रा भी गुंजाइश नहीं है। इस ईशोपनि
में जो शिक्षायें दी गई हैं उनके प्रकार पर दृष्टिपात क
ही से प्रकट होजाता है कि उन में ब्रह्म विद्या का
मौजूद है। इस उपनिषद् के ३ भाग हैं:—

पहला भाग—प्रथम के ३ मन्त्र पहला भाग
जिन में कर्त्तव्य पञ्चक का विधान किया गया है। अर्थ
उन में उन पांच कर्त्तव्यों का विधान किया गया है जिन
आचरण में लाने ही से कोई व्यक्ति ब्रह्म विद्या में प्रवेश
अधिकार प्राप्त किया करता है। वे पांच कर्त्तव्य ये हैं

[१] ईश्वर को प्रत्येक स्थान में मौजूद समझना।

[२] संसार की समस्त वस्तुओं को भोगते हुये यह भावना रखना कि वे सब वस्तुयें ईश्वर की हैं। भोक्ता का इनमें केवल प्रयोगाधिकार है।

[३] किसी का धन या स्वत्व नहीं लेना।

[४] कर्तव्य समझ और फल की आकांक्षा से रहित होकर सदैव कर्म करना।

[५] अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण न करना।

दूसरा भाग—उपनिषद् का दूसरा भाग ४ से ८ वें न्त्र तक है। जिसमें ब्रह्मविद्या का वर्णन है और इन्हीं ५ न्त्रों में ब्रह्मविद्यामूलक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन किया या है।

तीसरा भाग—उपनिषद् का तीसरा भाग, जिसमें मनुष्य कर्तव्य का विधान किया गया है कि किस प्रकार ब्रह्मविद्या ी प्राप्त करे, ९ से १६ वें मन्त्र तक पूरा होता है। १७ वें न्त्र में एक महत्वपूर्ण परीक्षा की बात कही गई है और न्तिम १८ वें मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई है और इसी ार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाती है उपनिषद् के स स्थूल विवरण से ही उपनिषद् की महत्ता प्रकट होती । इतने थोड़े मन्त्रों में इतनी महत्वपूर्ण शिक्षाओं का

विधान ही वेद की महत्ता का द्योतक है। समय समय
अनेक विद्वानों ने इस उपनिषद् पर विचार किया और बहु
ने उसकी टीकायें लिखीं और व्याख्यायें भी की हैं इनमें
प्राय: ३३ टीकाओं के देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हु
है। इनमें सब से पुरानी टीका संस्कृत में श्री शङ्कराचा
की है विधर्मियों में सब से पुराना अनुवाद शाहज़ादे दा
शिकोह का किया हुआ फ़ार्सी भाषा में है। इस नि
शाहज़ादे की लिखी हुई भूमिका प्रकट करती है कि
शान्ति केवल इन्हीं उपनिषदों की शिक्षा से प्राप्त हु
जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपनहार ने अपनी जगत् प्र
फ़िलासफ़ी का आश्रय छोड़ कर उपनिषदों ही को जी
और अन्त दोनों कालों के लिये शांतिदायक समझा था
यह उसकी लिखी टीका से स्पष्ट होता है। निष्कर्ष यह है
इस प्रकार की कोई न कोई विशेषता अधिकांश टीका
मिलती है। शङ्कराचार्य्य जी की टीका की विशेषता य
कि उन्होंने उपनिषद् के मन्त्रों को अद्वैतपरक लगाया
इसके विपरीत श्री रामानुजाचार्य्य उसे विशिष्टाद्वै
और श्री माधवाचार्य्य द्वैतपरक समझते हैं। वास्त
उपनिषद् क्या है इसका उत्तर उपनिषद् के अक्षरार्थ से

---

* In the whole world there is no stud
beneficial and so elevating as that of Upnish
It has been the solace of my life and it wil
the solace of my death. (*Schopenha*

ना है। मैंने यद्यपि अनेक टीकायें देखीं परन्तु अन्त में टीकाओं की विभिन्नता देखते हुये सिद्धान्त यही स्थिर या कि उपनिषदों का भाव उनके ही अक्षरों से समझना हिये इस छोटी सी पुस्तक को उसी यत्न का फल झना चाहिये। इसमें किसी भी टीका का अनुकरण नहीं या गया है। जो कुछ लिखा गया यह वही है जो उपनिषद् अक्षरों से समझा जा सकता है।

स्वाध्याय-शील नर-नारी इन पृष्ठों को पढ़ कर विश्वास कि इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। एक दूसरा कारण इन पृष्ठों लिखने का यह था कि प्रायः ४-५ वर्ष से जब से मैंने पनिषद् की कथाओं का प्रचार शुरू किया था तब से था सुनने वाले तक़ाज़ा कर रहे थे कि उसी ढङ्ग से जिस मैं कथायें किया करता हूँ, उपनिषदों की टीका लिखदूं। द्यपि यह समझ कर कि जब अनेक टीकायें पहले ही से ौजूद हैं फिर क्यों कोई नवीन टीका और लिखी जायें, बराबर टीका लिखने की बात टालता रहा परन्तु अन्त विवश होकर अध्यात्म विद्या के प्रेमियों की इच्छा के सामने शिर झुकाना ही पड़ा। मैं शायद और भी कुछ देर तक इस बात को टालता परन्तु 'प्रभात' के सम्पादक प्रिय धर्मेन्द्रनाथ जी के तक़ाजों ने कि 'प्रभात' के लिये अध्यात्म विद्या के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखना ही चाहिये, इस काम को पूरा करने के लिये बाधित किया और उन्हीं के प्रभात में लिखे हुये लेखों का यह संग्रह है। यदि इन

पृष्ठों के स्वाध्याय से किन्हीं का कुछ भी मनोरञ्जन तो उसका श्रेय धर्मेन्द्रनाथ जी को ही प्राप्त समभ चाहिये।

—नारायण स्वा

ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९
अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०
विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते
रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ओ३म् कृतो स्मर क्लिवे स्मर कृतँ स्मर ॥१७
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१८

* ओ३म् *

ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

[१] (इदंसर्वम) यह सब (यत्किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) चराचर वस्तु हैं (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित हैं [२] (तेन) उसी ईश्वर के (त्यक्तेन) दिये हुये पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोग कर [३] (कस्यस्वित्) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत कर ।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

[४] (इह) यहां (कर्म्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता (इतः) इससे भिन्न (अन्यथा) और कोई मार्ग (न) नहीं है ।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।

[५] [ये के च] जो कोई [आत्महनः] आत्मा घातक (आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले) (जन मनुष्य हैं (ते) वे (प्रेत्य) मर कर (अन्धेन तमसा) ग अँधेरे से [आवृताः] आच्छादित हुये [ते, असुर्याः लोकाः] वे प्रकाश रहित नाम वाले जो लोक (योनिय हैं [तान्] उन (योनियां) को [अपि गच्छन्ति] प्र होते हैं ।

व्याख्या

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है—शक्ति उसी के भीतर नि है । इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है । मनु जीवन की सफलता का भेद यही शक्ति-विकास है, शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक परलोक की सिद्धि का कारण बनती है । शक्ति-विकास कार्य-क्रम का ही नाम अध्यात्म (योग) विद्या है । कर्म में कुशलता का नाम है जैसा कि गीता में कहा है:—'योगः कर्मसु कौशलम'—महामुनि पतञ्जलि ने योग को क्रिया (कर्म) योग ही कहा है और उसके ३ विभाग किये हैं:— "तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधा क्रियायोगः (योगदर्शन २-३) अर्थात् तप, स्वाध्याय ईश्वर भक्ति करने ही से योग की सिद्धियां प्राप्त होत सुतराम् क्रिया (कर्म) ही योग है, उस क्रिया को

लिये सब से पहला साधन तप है, तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं, व्रत नाम कर्त्तव्य का है, इस शक्ति के विकास के लिये जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना, या जिस कर्त्तव्य का पालन करना है उसी का नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है। अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिये जिस प्रकार के वातावरण (Atmosphere) के उत्पन्न करने की जरूरत है वह उन पांच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है जिनका नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है। यह उपनिषद् की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है जिसका नाम आध्यात्म-विद्या में प्रवेशाधिकार है, इसीलिये उपनिषदों की शिक्षा के वर्णन करने में पहला स्थान इसी कर्त्तव्य-पञ्चक को दिया गया है।

पहला कर्त्तव्य

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार के आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर लेवे। इसका साधन यह है कि मनुष्य, ईश्वर को परिच्छिन्न (एक देशी), न मान कर उसे विभु (व्यापक) रूप में माने अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु के भीतर भी आकाश है इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत-प्रोत हो रहा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर में न हो और जिस में ईश्वर न हो; इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है।

हृदय के लचकीला होने के लिये दो बातों की ज़रूरत होती है । प्रथम वह निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की म[illegible] अधिकता से हो । ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त भां[illegible] सर्व व्यापक मानने से मनुष्य में आया करती हैं ।

मनुष्य पापाचरण के लिये सदैव एकान्त की खो[illegible] किया करता है । चोर इसी लिये रात्रि को अपनी सफल[illegible] का साधक समझता है क्योंकि उसमें उस प्रकार के एका[illegible] की अधिक सम्भावना होती है, जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लि[illegible] आवश्यक है । परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचर[illegible] के लिये एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता, एक उर्दू[illegible] कवि ने इसी भाव को अपनी एक कविता में इस प्रक[illegible] प्रकट किया है :—

"ज़ाहिद* शराब पीने दे मसजिद में बैठ कर "
"या वह जगह बता कि जहां पर ख़ुदा न हो ॥"

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आ[illegible] वह पाप नहीं कर सकता । इसलिये ईश्वर के सर्वव्यापक[illegible] पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है । दूस[illegible] बात प्रेम है । मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से वि[illegible] है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता, उसके व्यापक[illegible] गुण से, स्वीकार करे और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी[illegible] चाहे वह अछूत हो या कोई उससे भी निकृष्ट, ईश्वर [illegible]

---

* परहेज़गार = शुद्धाचारी मनुष्य

जूद होना मानेगा तब उससे घृणा किस प्रकार कर कता है। घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है, घृणा भी स्तिकता ही से उत्पन्न होती है। जिससे कोई घृणा गा अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा ी का नाम तो नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि ष्रापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदयों में लचकीलापन कठोरता का अभाव) आया करता है और इन दोनों धनों की प्राप्ति ईश्वर के व्यापकत्व पर विश्वास होने से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने दों में इस प्रकार प्रकट किया है:— 'ईशावास्यमिदꣳ यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।'

दूसरा कर्त्तव्य

उपनिषद् के संक्षिप्त से तीन शब्दों में वर्णन किया ा है। वे शब्द ये हैं:-'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' अर्थात् उस श्वर) के दिये हुये से भोग कर। उपनिषदों ने प्रत्येक ार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके तान उत्पन्न करे, शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे, और का उपभोग करे, कृषि, व्यापार तथा अन्य कला-कौश- दि से धन प्राप्त करके उसका उपभोग करे इत्यादि— निषद् इन सब को विहित बतलाती है, परन्तु एक शर्त सब के भोग के साथ लगाती है। और वह यह है कि ष्य इन प्राप्त भोग्य पदार्थों को ईश्वर का समझ कर ा करे ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ, राज्य,

धनादि को ईश्वर का समझ कर उनमें केवल अपना प्र
गाधिकार समझेगा और ममत्व न जोड़ सकेगा
अमुक पदार्थ मेरा है। संसार के समस्त दुःखों का
ममता है, दुःख प्रायः किसी न किसी वस्तु के पृथक
से हुवा करते हैं परन्तु जब इन्हीं वस्तुओं को स्वयं
देता है तब दुःख नहीं अपितु सुख हुवा करता है।
प्रोफ़ेसर को कौलिज में अनेक वस्तुयें पुस्तकें, चित्र, कु
मेज़ आदि प्रयोग के लिये मिली हुई हैं वह उनको कौ
के घंटों में प्रयोग करता है —प्रयोग काल (कौलिज के
के भीतर यदि कोई उससे इन वस्तुओं को लेना च
है तो वह नहीं देता परन्तु जब कौलिज का अन्तिम
बजा और इन वस्तुओं के प्रयोग का समय खतम हुआ
वह स्वयं इन वस्तुओं को कौलिज ही में छोड़ कर
तनहा चल देता है उस समय यदि कोई कहता है कि
वस्तुओं में से वह किसी को अपने साथ लेता जावे
वह उसे अपने ऊपर बोझ समझता है—प्रोफ़ेसर ने
इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना केवल प्रयोगाधि
समझा तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कुछ भी
नहीं हुआ परन्तु यदि वह इन वस्तुओं में ममता जोड़
कि ये वस्तुयें मेरी हैं तब उसे इन वस्तुओं के छो
कष्ट अनुभव करना पड़ता, अस्तु प्राणियों में जब तक
का प्राबल्य रहता है वह किसी वस्तु को छोड़ना
चाहता परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्र
धिकार समझता है तब प्रयोग का समय समाप्त हो

्यं उन्हें छोड़ दिया करता है वस्तुओं के छीनने वाले
ार, डाकू, राजे-महाराजे हुआ ही करते हैं। परन्तु एक
ड़ी प्रबल शक्ति है जो गिन गिन कर एक एक वस्तु
ाणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा
रती। उस शक्ति का नाम मृत्यु है। मृत्यु आकर पदार्थों
ो छीनती है परन्तु ममता का वशीभूत प्राणी उन्हें देना
हीं चाहता। इसी कलह का नाम मृत्यु संवेदना (मरने
ा दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं, किन्तु सुख-
द है। परन्तु मरने के समय ये दुःख, मनुष्यों को ममता
े वश होकर उठाना पड़ता है। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य
दार्थों में अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है वह उन्हें
योग का समय (जीवन काल = आयु) समाप्त होने पर
ोड़ देता है और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं जिसे
ृत्यु आकर अपहरण करे। इसलिए उसके लिए मृत्यु का
मय दुःख का समय नहीं अपितु सुख और शान्ति के
ाथ संसार छोड़ने का समय होता है। जिसमें उसे आशा
ौर आशा ही नहीं किन्तु विश्वास होता है कि वह यह
ात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति करने के
िये कर रहा है। और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं
ापितु मृत्यु का स्वागत किया करते हैं और प्रसन्नता के
ाथ हंसते २ संसार को छोड़ दिया करते हैं। मृत्यु के
म्बन्ध में जब यह सिद्धान्त दुनिया के सामने रक्खा जाता
ै कि वह दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है तो मनुष्य उसके

स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं — एक व्यक्ति जो कुष्ठ से पीड़ित है और उसके शरीर से रक्त और मवाद निक करता है जिससे प्रत्येक क्षण उसे व्यथित रहना पड़ता इस पर तुर्रा यह कि वह जेलखाने में क़ैद भी है कि प्रकार की स्वतन्त्रता न होनेसे उसका जीवन दुःख केवल दुःखमय बन रहा है परन्तु ऐसे व्यक्ति से जब पू हैं कि क्या भाई तुम इन सारी विपत्तियों से बचने के लि मरना चाहते हो तो मरने का नाम सुन कर वह कानों हाथ रखता है। क्रियात्मक जगत में मृत्यु का इतना मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है फिर मृत्यु को किस प्र सुखप्रद कह सकते हैं। यही कारण है जिससे मनुष्य सिद्धान्त को स्वीकार करने में हिचिर-मिचिर करते हैं परन्तु जैसा कि कहा गया है यह दुःख कब मनुष्यों को हो है जब वे ममता से नाता जोड़ लेते हैं। एक अत्यन्त रूपव पुरुष अपना मुँह जब हासकरी शीशे (Ludicrous Laughing glass) में देखता है तो उसका अच्छा भी बहुत भौंड़ा और हंसने के योग्य दिखाई देता है, इसमें क्या मुँह का दोष है, मुँह तो अच्छा खासा है। इस दोष असल में उस हासकरी शीशे का है जिसके कारण मुँह बुरा दिखाई देता है। इसी प्रकार मृत्यु तो दुःख नहीं अपितु सुखप्रद ही है परन्तु जब मनुष्य ममता आइने को सामने रख कर उसमें उसे (मृत्यु को) देख है तब वह डरावनी और भयावनी प्रतीत होने लगती

में भी, स्पष्ट है, कि दोष मृत्यु का नहीं किन्तु उसी ममता
ी हासकरी शीशे का है यदि इस शीशे को हटा कर देखें
फिर मृत्यु की प्यारी और असली सूरत दिखाई देने
ाती है।

सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य को पालन करने
मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है। किन्हीं २
ुवों को ऐसा भ्रम है या हो जाता है कि यदि मनुष्य
ंसारिक पदार्थों राज्यादि में ममता न जोड़े तो फिर उनकी
ा न कर सकेंगे। परन्तु यह उनकी भूल है; मनुष्य उन
तुओं की भी वैसी ही रक्षा उपर्युक्त प्रोफेसर की तरह
ि्या करता है जो उसे प्रयोग के लिये मिली हों जैसी
की करता है जिनमें उसने मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ
इसलिये लोकदृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी
जैसा परलोक-दृष्टि से। मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र
कर संसार में कौन सा बड़े से बड़ा काम है जिसे नहीं
सकता।

तीसरा कर्त्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किये संसार का
ई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्मविद्या का तो
ना ही क्या, उसे तो कोई अशान्ति में या अशान्तचित्त
कर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूल कारण
सी व्यक्ति या जाति का स्वत्व अपहरण ही हुआ करता है।

दुनियां में भिन्न २ जातियों में जितने भी युद्ध हु करते हैं उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी ज का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुं गई हो। यही कारण व्यक्ति २ के झगड़ों की तह में छि हुआ मिलता है। इस लिये "कारणाभावात्कार्य्याभा के नियमानुसार उपनिषदों ने तीसरा कर्त्तव्य यह ठहर है कि "मागृधः कस्यस्विद्धनम"। अर्थात् किसी के धन स्वत्व लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लि जायगा, न किसी का स्वत्व छीना जायगा, न किसी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई जायगी और न उन की सन्त अशान्ति का जन्म होगा।

चौथा कर्त्तव्य

उपनिषद् ने चौथा कर्त्तव्य इन शब्दों में बतलाय कि:—कर्म करते हुये ही मनुष्य १०० वर्ष तक जीने इच्छा करे परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार से क चाहिएं कि वे करने वाले को लिप्त न करें अर्थात् मन उन में फंस न जाय। उपनिषद् ने खुले शब्दों में यहां भी कह दिया है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए (कर्म योग) के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्त्तव्य दो भागों में विभक्त है। (१) मनुष्य निरन्तर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए। (२) वे कर्त्ता को फांसने वाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रगट होता है कि
ि सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है—जगत् में कोई वस्तु
ी दिखाई नहीं देती कि जा क्रिया रहित हो। सृष्टि
महान् से महान् कार्य्य सूर्य प्रतिक्षण गति में रहता है।
ी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी से छोटी
तु एक कण (Atom) को लेवें, और देखें तो एक बड़ा
मत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है
र उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons)
ी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं जिस प्रकार अनेक ग्रह
र उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड
एक एक कण भी सूर्य मण्डल (Solar System) का
क्षिप्त रूप है। क्या वह कण जिसके भीतर इतना कार्य
रहा है, ठहरा या निष्क्रिय है? विज्ञान का उत्तर यह है
क कदापि नहीं। यह पुस्तक जो सामने मेज़ पर रक्खी है
या ठहरी है? कदापि नहीं, पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से
ने हैं उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया
ाता है। यदि कम्पन न हो तो कोई वस्तु, वस्तु रूप में बाक़ी
रहे, इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी से छोटी वस्तु
ण है जिसके भीतर गति हो रही है, और जो स्वयं भी
र्य मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य
गद्व्यापी है तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता था।
सी लिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिए, उपनिषद्
ा उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने

का विधायक है। अवश्य संन्यास कर्म के त्याग को
हैं परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म यज्ञा
है और उन्हीं का त्याग संन्यास है ॥

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य क
लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के
आवश्यक है कि समझ लिया जावे कि कर्म दो प्रका
हैं:— १-सकाम, २-निष्काम। सकाम कर्म, फल की
रख कर करने का नाम है जब कि निष्काम कर्म, फल
इच्छा त्याग, धर्म या कर्त्तव्य समझ कर कर्म करने का
हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से
वासना उत्पन्न होती है जो फिर उसी प्रकार के क
प्रेरणा करती है। योग दर्शन का भाष्य करते हुये व्यास
ने संसार-चक्र की बात कही है। वह चक्र छः अरे वाल
वे अरे ये हैं। मनुष्य इच्छा करता है, उसका फल उसे
मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है, वह फिर
प्रकार की इच्छा कराती है. उससे फिर सुख और फिर
वासना और उससे फिर वही इच्छा। इस प्रकार, (१)
(२) उसका फल सुख (३) सुख की वासना, ये
तीन अरे हैं जो बराबर उपर्युक्त भांति घूमा करते हैं।
तीन अरे, (१) द्वेष, (२ उसका फल दुःख, (३ दुः
वासना है। ये भी पहले ३ अरों की भांति घूमा कर
यही छः अरों वाला संसार-चक्र है जो संसारी पुरु
चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में
का या कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है; उपनिषद्

ा कर्त्तव्य ठहराती है कि कर्म करते हुये भी इस चक्र में फँसे। फँसे हुये प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल कते हैं, उसका उपाय और एक मात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित नुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। नके न रहने से सुख-दुःख भी पृथक होजाते हैं और सुख-दुःख के न रहने से उनकी वासनायें भी नहीं बन सकतीं। और इस प्रकार चक्र के छओं अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है। यही चौथा कर्तव्य है जिसके पालन किये विना कोई व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

पांचवां कर्त्तव्य

उपनिषद् में पांचवें कर्त्तव्य का विधान इस प्रकार किया गया है कि:—

आत्महनन [आत्मा के विपरीत काम] करने वाले मर कर सत्व (प्रकाश) रहित और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में आत्महनन अर्थात् आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए। इस पर विचार करना है। आत्मा स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है किसी प्रकार के ईर्ष्या द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इस लिए आत्म प्रेरणा भी जिस को अन्तःकरण के

अनुकूल कार्य करना (कौनशेन्स Conscience) कहते इन दोषों से मुक्त होती है। इसी लिए धर्मशास्त्रकार मनु भी इसी आत्म प्रेरणा को "स्वस्य च प्रियमात्मनः" कर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आ प्रेरणा है। चरित्रवान हुए बिना मनुष्य अध्यात्मजगत प्रवेश नहीं कर सकता, इसी लिए उपनिषद् में इस बात विचार करते हुए कि कौन २ मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त न कर सकते उनकी गणना में सब से पहला नाम चरित्र-ही का लिया है। "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहि (कठोपनिषद् १।२ २३) आत्मप्रेरणा से किस प्रकार च निर्मित होता है, इसके लिए किसी बड़ी व्याख्या की ज़रू नहीं-चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं—अभ्यास एक कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य में परिणत करने से बना कर है। मनुष्य जब कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता तो अच्छे काम करने में आत्मप्रेरणा से उसको उत्सा और प्रसन्नता उत्पन्न होती है परन्तु जब बुरा काम कर का विचार करता है, तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्ज और शङ्का के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा होत है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार कर प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं किन्तु अभ्यासव किया करता है। इसी का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसङ्गति में पड़ कर कुसङ्ग दोष से आत्मप्रेरण

विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, उससे असद्भ्यास बनता है। और इससे वह उस बुराई भी बिना इच्छा के, किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी भ्यास बिना करने लगता है। कल्पना करो एक मनुष्य ने फ़्यून खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब जब दूसरे उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता बतलाते हैं तो वह हैं स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब कहते हैं कि फिर उसे छोड़ क्यों नहीं देते. तब वह अपनी विवशता प्रकट करते ये कह देता है कि क्या करूं आदत से लाचार हूं।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-प्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है और इसके विरुद्ध आचरण करने से असद्भ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल ही कार्य करके हम चरित्र निर्माण करते हुये आत्म-जगत में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विचारकों ने भी उपनिषद् की इस सचाई के सामने शिर झुकाया है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मारले ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है राज़ीनामा (Compromise)। पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राज़ीनामा हो सकता है ? उसने सम्मति के ३ दरजे किये हैं :—

(१) सम्मति का स्थिर करना। Formation of opinion.

(२) सम्मति का प्रकट करना। Expression of opinion.

(३) सम्मति का कार्य में परिणत करना।
Execution of opinion.

इस प्रकार से सम्मति के तीन दर्जे करते हुए मार
लिखा है कि कुछ थोड़ा सा राज़ीनामा (संख्या २) स
के प्रकट करने में हो सकता है और वह केवल इतना
जिस सम्मति के प्रकट करने से दुष्परिणामों के निक
की सम्भावना हो उस सम्मति को प्रकट न किया जा
यह वही बात है जिसे मनु ने 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' के
प्रकट किया है। मारले की सम्मति में परा २ राज़ीन
(संख्या ३) सम्मति के कार्य में लाने में हो सकता है। अ
अल्पपक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहुपक्ष के मतानु
कार्य किया जावे, परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है
(संख्या १) अर्थात् सम्मति के स्थिर करने में किसी दशा में
कोई राज़ीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर क
क्या है आत्म प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर कर
अतः यह स्पष्ट है कि मारले साहिब भी आत्म-प्रेरण
विरुद्धाचरण का विधान नहीं करते हैं। कर्त्तव्य पञ्च
से यह पांचवां कर्त्तव्य है "आत्मा के अनुकूल कार्य करना
इस प्रकार उपानिषदों ने सब से पहली बात आत्मज्ञान प्र
करने के लिए यही बताई है कि मनुष्य इन पांचों कर्त्त
को समझ कर इन पर आचरण करे। वे पांचों कर्त्तव्य
हैं:—एक बार फिर उन्हें हम यहां लिखे देते हैं:—

(१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का सर्व व्यापकत्व
(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में ममता को न जोड़

उनमें अपना केवल प्रयोगाधिकार समझना।

(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।

(४) सदैव कर्म करना और उन्हें निष्कामता का लक्ष्य में रख कर धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।

(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

नेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत।
द्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

वह ब्रह्म (अनेजत्) अचल, एक रस (एकम एक, मनसो जवीयः) मन से अधिक वेग वाला क्योंकि सब गह (पूर्वम्) पहले से (अर्षत्) पहुँचा हुआ है (एनम्) न ब्रह्म को (देवाः) इन्द्रियां (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त तीं अर्थात् वह इन्द्रियों से, उन इन्द्रियों का विषय न ने के कारण, प्राप्त नहीं होता — (तत्) वह (तिष्ठत्) चल होने पर भी (धावतः) दौड़ते हुए अन्यान्) न्यों को (अत्येति) उल्लंघन किये हुये है, (तस्मिन्) नके भीतर (मातरिश्वा) वायु (अपः) जलों को [मेघादि रूप में] (दधाति) धारण करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः ॥५॥

(तत) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। तत्) न्तु स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह

(दूरे) दूर है (तत् उ, अन्तिके) वह समीप भी है (तत् उ) (अस्य, सर्वस्य, अन्तः बाह्यतः) इस सब के अन्दर और बाहर भी है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

भावार्थ –[यः तु] जो कोई [सर्वाणि] सम्पूर्ण [भूतानि] चराचर जगत् को [आत्मनि, एव] परमेश्वर ही में [अनुपश्यति] देखता है [च] और [सर्व] सम्पूर्ण [भूतेषु] चराचर जगत् में [आत्मानम्] परमेश्वर को देखता है [ततः] इससे वह [न, विजुगुप्सते] निन्दित नहीं होता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

भावार्थ—[यस्मिन्] जिस अवस्था में [विजानतः] विशेष ज्ञान प्राप्त (योगी की दृष्टि में) [सर्वाणि भूतानि] सम्पूर्ण चराचर जगत् [आत्मा एव] परमात्मा ही [अभूत्] हो जाते हैं [तत्र] उस अवस्था में ऐसे [एकत्वम् अनुपश्यतः] एकत्व को देखने वाले को [कः मोहः] कहां मोह [कः शोकः] और कहां शोक ?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

भावार्थ—(सः) वह ईश्वर (परि, अगात्) सर्वत्र
ापक है (शुक्रम्) जगदुत्पादक (अकायम्) शरीर रहित
अव्रणम्) शारीरिक विकार रहित (अस्नाविरम्) नाड़ी
ार नस के बन्धन से रहित (शुद्धम्) पवित्र (अपापविद्धम्)
प से रहित (कविः) सूक्ष्मदर्शी (मनीषी) ज्ञानी (परिभूः)
र्वोपरि वर्तमान (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध (शाश्वतीभ्यः)
नादि (समाभ्यः) प्रजा जीव के लिये (याथातथ्यतः)
ीक २ (अर्थान्) कर्म फल का (व्यदधात्) विधान
रता है।

व्याख्या

कर्त्तव्य पञ्चक का विवरण दिया जा चुका है—उस
विवरण में कहा गया था कि इन पांच कर्त्तव्यों के पालन
रने से मनुष्य ब्रह्म-विद्या में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर लेता है।
ब प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है जिसमें प्रवेश की
च्छा, कम से कम आस्तिक जगत् को, रहती है। जिस विद्या
ब्रह्म का वर्णन हो वह ब्रह्म-विद्या कही जाती है। ब्रह्म का
र्णन उसके गुणों द्वारा होता है और गुण उसके वर्णनातीत
। फिर उसके समस्त गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता
? यह प्रश्न है जो सदैव ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी को चक्कर
डाल देता है। परन्तु उपनिषदों में इसका अच्छा खासा
माधान मिलता है। जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म-विद्या
ो प्राप्त करना चाहते हैं तो विचारणीय यह है कि इस
ह्म-विद्या के प्राप्त करने से हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा

उद्देश्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम ब्रह्म की
तोल करना चाहते हैं, अपितु एकमात्र उद्देश्य यह
सकता है कि हम अपनी उन्नति करें और उस उन्नति
चरम सीमा यह हो कि ब्रह्म को प्राप्त करलेवें। बस इ
उद्देश्य की पूर्ति के लिये जिन साधनों की अपेक्षा है उन
प्राप्त करना चाहिये। यदि ब्रह्म के केवल १० गुणों के जा
से हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है तो ग्यारहवें गुण
जानने के लिये श्रम करना अनावश्यक है। इसीलिये उपनि
ने ब्रह्म के केवल उन्हीं गुणों के जान लेने की शिक्षा दी है
मनुष्य को उन्नति पथ पर पहुँचा देने के लिये पर्याप्त हैं:

[१] सब से पहिली शिक्षा ब्रह्म के सम्बन्ध में यह
कि तुम उसे व्यक्ति रूप में (Personal God) न म
कर समष्टि रूप में (Impersonal God) मानो। अर्थ
यह विभु है परिच्छिन्न नहीं, सर्व देशी है एक देशी न
इस बात का मनवाना उपनिषद् ने इतना अधिक आवश्य
समझा है कि इस को अनेक रीति से वर्णन किया है
हम उसका यहां थोड़ा सा विवरण देते हैं।

उपनिषद् ने बतलाया कि तुम उसे "अनेजत्" (ए
रस) समझो। विचार करके देखलो कि 'एकरस' सदैव स
देशी ब्रह्म ही हो सकता है। फिर उपनिषद् ने इसी भाव
प्रदर्शित करने के लिये ब्रह्म के निम्न गुणों का वर्णन किया है

(१) वह मन से भी अधिक वेग वाला है क्यों
प्रत्येक जगह पहले ही से (पूर्वमर्षत्) पहुँचा हुआ रहता है

इसलिये सर्व-देशी है ।

(२) इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियां एक देशी वस्तु ही का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं ।

(३) वह (सर्वदेशी होने से) ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं का उल्लंघन किये हुये है ।

(४) उसी (ब्रह्म) के अन्तर्गत वायु जलों को (बादल रूप में) धारण किये हुये रहता है । जगत् का कोई भाग ऐसा नहीं है कि जहां वायु न हो । जहां कहीं स्पष्ट रूप में वायु नहीं होता वहीं आकाश (Ether) होता है । इस प्रकार से जगद्व्यापी वायु उसी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना कार्य करता है ।

(५) वह गति देता तो है परन्तु स्वयं गति में नहीं आता । ब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्व केवल इतने ही से प्रारम्भ हो कर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय, जब प्रलय के बाद जगत् उत्पन्न होना है और प्रकृति विकृति होना चाहती है, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह शान्त और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का सञ्चार करता है जिससे प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भङ्ग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हो कर प्रलय सृष्टि रूप में परिवर्तित हो जाती है । इसी गति को विज्ञान में गतिशक्ति (Energy) नाम दिया गया है । पञ्च भूत प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गति के संघात का नाम है (Matter combined with Energy) यहां एक शङ्का उत्पन्न हुआ करती

है कि गति के देने के लिये गतिदाता से पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिये तभी तो वह गति दे सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म को उस गति के देने के लिये किसी प्रकार की हरकत करने की ज़रूरत नहीं होती और न उस में हरकत होती है क्योंकि वह एक देशी नहीं सर्वदेशी है। यह गति जो प्रकृति में एक आलमगीर हलचल पैदा कर देती है ब्रह्म के केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा) से, बिना किसी हरकत के, उत्पन्न हो जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिक भी, इच्छा से गति होने के सिद्धान्त को "Will precedes motion" कह कर, समर्थन करते हैं—अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म इस प्रकार गतिदाता होने पर भी स्वयं गति में नहीं आता। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी उपनिषद् के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है।*

(६) वही दूर है वही समीप है—वही सब के भीतर और वही सब के बाहर है—अर्थात् सब जगह है।

(७) जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों (चराचर जगत्) को उस ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को उन सम्पूर्ण भूतों के अन्दर देखता है वह घृणा रहित हो जाता है—इसी का नाम विश्व-प्रेम है जो उपनिषद् की पहली ही शिक्षा के अन्तर्गत है और जिसे ब्रह्म-विद्या का पहला ही पाठ कहना चाहिये।

---

*God is merely the source of movement, the first mover (आदि कारण) who himself is never moved. (*The Age of Aristotle P. 46*)

(८) वह ब्रह्म सर्वत्र पहुँचा हुआ है और शरीर रहित ड़े फुन्सी के विकारों से पाक, और नाड़ी नस के बन्धन भी पृथक् है और सर्वव्यापक है।

इस प्रकार हमने देख लिया कि नौ प्रकार से वर्णन रके उपनिषद् ने इस शिक्षा को कि ब्रह्म सर्व-देशी है— धिक से अधिक स्पष्ट किया है। यह ब्रह्म का पहला गुण जो ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सब से पहले ङ्कित हो जाना चाहिये। बिना इसको समझे, बिना इस र श्रद्धा और विश्वास किये हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और न्नत पथ की ओर क़दम भी नहीं बढ़ा सकते।

[२] ब्रह्म का दूसरा गुण एकत्व है। अर्थात् ब्रह्म एक ी है। दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इसके उपासक ो दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

[३] ब्रह्म का तीसरा गुण शुक्रम् अर्थात् जगत् का आदि मूल कारण होना है।

[४] चौथा शुद्धम् गुण है, अर्थात् ब्रह्म की शुद्धता ो लक्ष्य में रखते हुये ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिये उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा, और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, तभी वह ब्रह्म-विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

[५] पांचवां गुण अपापविद्धम् है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिये पाप के मूल विपरीत (मिथ्या) ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिये।

[६] कवि छठा गुण ब्रह्म का है। कवि, क्रान्तदर्श सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

[७] मनीषी ब्रह्म का सातवां गुण है। जो ब्रह्म पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

[८] "स्वयम्भू" गुण प्रकट करता है कि ब्रह्म अपनी सत्ता से आप स्थित (क़ायमबिज़्ज़ात) है। किसी का मुहताज नहीं।

[६] "फलदाता" गुण अर्थात् ब्रह्म अपनी अनादि प्रजा जीव के कर्मों के फलों का "याथातथ्यतः" ठीक ठीक विधान किया करता है। कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

बस उपनिषदों ने मनुष्यों के लिये इन्हीं नौ गुणों का जान लेना और उनको अपने अन्तःकरण में धारण कर लेना अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति तक के लिये पर्याप्त बतलाया है। ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में धारण करें अथवा यों कहिये कि हम किस प्रकार अपने आत्मा को उन्नत करें, इसके लिये उपासक को इन गुणों का मानसिक जप करना होगा। केवल मुँह से किसी शब्द का रटन जप नहीं है किन्तु हृदय से उस शब्द के अर्थ का चिन्तन जप का उत्तरार्द्ध और जप का मुख्य और आवश्यक अङ्ग है।* आत्मा की उन्नति या ब्रह्म प्राप्ति के उद्योग का प्रारम्भ इसी

* तज्जपस्तदर्थ भावनम् (योगदर्शन)

जप से होता है। इसी को उपासना का पहला अङ्ग भी कहते हैं। उपासना का दूसरा और अन्तिम अङ्ग ब्रह्म को हृदय में धारण कर लेना है। पहले अङ्ग में जहां 'वाचक' को समझते हुये हृदय में रक्खा जाता है दूसरे अङ्ग में हृदय को वाच्य का मन्दिर बनाना पड़ता है अर्थात् वाच्य को, हृदय (आत्मा) में रक्खा जाता है ब्रह्म-विद्या के पहले अङ्ग की प्राप्ति के उद्योग का सूत्रपात सन्ध्या से किया जाता है, और दूसरे अङ्ग की पूर्ति अष्टाङ्ग योग के अन्तिम अंगों से होती है, सन्ध्या को भी सन्ध्या योग इसी लिये कहते हैं सन्ध्या से उपासकों को निम्न योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिये।

(१) शारीरिक उन्नति अर्थात् समस्त इन्द्रियें बलवान, पवित्र और यश वाली होनी चाहियें।

(२) मानसिक उन्नति अर्थात् हृदय द्वेष से रहित होना चाहिये और प्राणायामादि के द्वारा उसमें प्रत्याहार की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न हो जानी चाहिये।

(३) आत्मिक उन्नति, इसके लिये उपासना के प्रथम अङ्ग वाचक के हृदय में धारण करने का अभ्यास करना चाहिये।

इतना कार्य सन्ध्या से हुआ करता है और इसी के लिये सन्ध्या की जाती है और करनी चाहिये। वाचक के हृदय में धारण करने का फल यह होता है कि मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से आलोकित होता है और उसमें विश्व-प्रेम का आभास पड़ने लगता है। जप

अत्यन्त आवश्यक वस्तु है, इससे स्मृति का भी विकास होता है। इस योग के सिद्धान्त को पश्चिम के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध राजनैतिक ग्लैडस्टोन के लिये कहा जाता है कि इसने सम्पूर्ण होमर कृत इलियड को रट रक्खा था, जहां से कोई चाहे वह सुना सकता था इसी से उसकी स्मृति बहुत उच्च कोटि की थी। परन्तु जप का अर्थ केवल Cat (बिल्ली) और Dog (कुत्ता) के अर्थों का रटना नहीं है। इसका उचित रीति से तिरस्कार किया ही जाता है परन्तु वह जप जिसका ऊपर विधान किया गया चित्त के उन्नत करने का साधन और मुख्य साधन है।

ब्रह्म को किस प्रकार उपासक (योगी) हृदय में धारण कर सकता है? यह बात है जो ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है और यह पाठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है कि "जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत् को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है तब ऐसे एकत्व का देखने वाला (योगी) मोह और शोक से छूट जाता है" उपनिषद् वाक्य एक अवस्था विशेष का संकेत करता है वह अवस्था कौनसी है? यही प्रश्न है जिस पर विचार करना है। योग के अंगों में प्राणायाम के पश्चात् ५ वें अङ्ग से शरीर के भीतर इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है। मनुष्य की शक्ति अन्तः और वाह्यकरणों में साधारणतया फैली हुई रहती है। और इसीलिये योगी के सिवा कोई

नुष्य अपनी पूर्ण शक्ति को किसी एक काम में नहीं लगा
कता। जब योगी अपनी समस्त शक्तियों को भीतर
कत्रित करना चाहता है तो यह उद्देश्य प्रत्याहार के
भ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है। प्रत्याहार समस्त शक्ति
केन्द्रित करने की कार्य प्रणाली ही का नाम है। उस
समस्त (प्रत्याहार द्वारा) एकत्रित शक्ति को किसी एक
स्थान पर लगा देने का नाम धारणा है। और उसी एकत्रित
शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगा कर आत्मा में लगा
देने का नाम ध्यान है। और इसी की उच्च अवस्था को
समाधि कहते हैं। इस प्रकार समस्त शक्ति को आत्मा में
लगा देने को ध्यान कहा गया है। परन्तु योगी आत्मा में
शक्तियों के लगाने का कोई साक्षात् यत्न नहीं कर सकता।
हां, इस कार्य की पूर्ति असाक्षात् यत्नों से हुआ करती है।
अर्थात् कोई भी अपनी शक्तियों को साक्षात् यत्नों से
आत्मा के अन्दर लगा नहीं सकता परन्तु विशेष अवस्था
के उत्पन्न कर लेने से वह शक्ति स्वयमेव आत्मा में लग
जाया करती है। उसी असाक्षात् यत्न का नाम ध्यान है।
ध्यान के समझने में आम तौर से ग़लती की जाया करती
है— निराकार ईश्वर के ध्यान की बात आते ही लोग कहने
लगते हैं कि जिस की कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं, रूप
नहीं भला किस प्रकार कोई उसका ध्यान कर सकता है?
ऐसे पुरुषों के मतानुसार ध्यान किसी वाह्य रूप रङ्ग वाली
वस्तु के भीतर हृदय में लाने का नाम है परन्तु बात इसके

सर्वथा विपरीत है—ध्यान बाहर से किसी वस्तु के भी
लाने को नहीं कहते किन्तु भीतर (हृदय में) जो कुछ
हो उस सब को निकाल कर बाहर फेंक देने का नाम ध्य
है। इसीलिये सांख्य के आचार्य्य कपिल ने कहा है:—

"ध्यानं निर्विषयं मनः।"

अर्थात्—सांख्य की परिभाषानुसार ध्यान मन
निर्विषय करने को कहते हैं। मन के निर्विषय करने
अर्थ यह है कि मन का इन्द्रियों से काम लेना, जिस
जागृतावस्था बना करती है, छूट जावे, तथा मन का आ
भीतर काम करना, जिससे स्वप्नावस्था निर्मित होती
बन्द हो जावे।

इसका तात्पर्य्य यह है कि जागृतावस्था ही में योग
अपनी वह अवस्था बना लेवे जो सुषुप्ति में हुआ करत
है और जिसमें मन पूर्ण रीति से निष्क्रिय (निर्विषय
हुआ करता है। आत्मा की दो प्रकार की शक्तियां हैं ए
वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर के द्वारा जगत् में काम करत
हैं, और जिसे आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। दूसर
वह जो आत्मा के अन्दर काम करती हैं और जिसका ना
अन्तर्मुखी वृत्ति है। दोनों वृत्तियों में से एक न एक वृत्ति
प्रत्येक समय काम किया करती है। न दोनों वृत्तियां ए
साथ काम करती हैं, और न दोनों एक साथ बन्द हो
जाती हैं। यदि एक वृत्ति बन्द करदी जावे तो दूसरी
स्वयमेव काम करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मन का निर्विषय करना है। मन के निर्विषय होने के साधन ध्यान के अभ्यास हैं। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की बहिर्मुख वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुख वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाती है। जिस प्रकार नहर का फाटक बन्द कर देने से समस्त जल स्वयमेव नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है और इस अन्तिम कार्य्य के लिये किसी प्रकार का यत्न अपेक्षित नहीं होता, इसी प्रकार नहर रूपी वाह्य वृत्ति के बन्द होने से आत्म-रूपी नदी में अन्तर्मुख वृत्ति रूप जल स्वयमेव प्रवाहित हो जाता है।

यही वह अवस्था है जिस का उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्वदर्शी हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्यानावस्थित योगी समझता है कि वह ध्याता है और किसी ध्येय की प्राप्ति के लिये ध्यान रूपी क्रियायें करता है। परन्तु जब और ऊँची समाधि अवस्था में पहुँचता है तब ध्याता और ध्यान दोनों का ज्ञान तिरोहित हो जाता है और केवल ध्येय (ईश्वर) ही उसके समस्त ज्ञान का लक्ष्य रह जाता है, और उस समय योगी की वही अवस्था होती है जिसके लिये एक कवि ने कहा है:—

"जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।"

उपनिषद् के इसी भाव को कुछेक कवियों ने बड़ी सुन्दरता से अपनी कविताओं में समाविष्ट किया है:—

दिया अपनी खुदी* की जो हमने मिटा,
वह जो परदा सा बीच में था, न रहा।
रही परदे में अब न वो परदे-नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥१॥

आप ही आप हैं यां ग़ैर का कुछ काम नहीं।
ज़ातेमुतलक़† में तिरे शक्ल नहीं नाम नहीं ॥२॥

चुनां पुर शुद फ़िज़ाय सीना अज़ दोस्त।
ख़याले ख़ेश गुम शुद अज़ ज़मीरम‡ ॥३॥

समस्त चराचर जगत् में योगी ब्रह्म के सिवा कुछ नहीं देखता। जब उसने अपने प्रेम-पात्र के प्रेम के आधिक्य में अपनी ही सुध-बुध बिसार दी है, तो प्रकृति के ईंट, पत्थरों की उसे किस प्रकार चिन्ता रह सकती है और वह कैसे मोह और शोक के बन्धन में रह सकता है। यही ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है जिसमें जीव अपनी सत्ता क़ायम रखते हुये भी उससे बेसुध सा रहता है, और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता। इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवन्मुक्त हो जाता है और इसी अवस्था वाले

---

* खुदी = अहंकार।

† ज़ातेमुतलक़ = ईश्वर की असीम सत्ता।

‡ मेरा हृदय अपने प्रेमपात्र के विचारों से इतना भर गया कि अब उसमें अपनी स्मृति भी बाक़ी नहीं रही।

शरीर के छूटने पर योगी आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

भावार्थ—(ये जो (अविद्याम्) कर्म का (ज्ञान की उपेक्षा करके) सेवन करते हैं (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं— य उ,) और जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) (विद्यायाम्) ज्ञान में (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उस से (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

भावार्थ—(विद्यायाः) ज्ञान का (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) और कर्म का (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (इति) ऐसा हम (धीराणाम्) धीर पुरुषों के वचन (शुश्रुम) सुनते हैं। (ये) जो (नः) हमारे लिये (तत्) उन वचनों का (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

भावार्थ—(यः) जो (विद्याम्, च, अविद्याम च)

ज्ञान और कर्म (तत्, उभयम्) इन दोनों को (सह) स
साथ (वेद) जानता है वह (अविद्यया) कर्म से (मृत्
मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम
अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का महत्व पू
सिद्धान्त वर्णन किया गया है। यहीं से उपनिषद् का तीसर
भाग प्रारम्भ होता है, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधा
किया गया है। विद्या ज्ञान को कहते हैं यह तो निर्विवा
ही है। अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं। एक पारिभाषि
दूसरा यौगिक दर्शनों में प्रायः पारिभाषिक अर्थ मिथ्
ज्ञान के लिये जाते हैं। परन्तु यौगिक अर्थ अविद्या
"विद्या से भिन्न" के हैं। (अ+विद्या) जो विद्या अर्था
ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं वह है क्या? इस प्रश्न क
उत्तर इन मन्त्रों का देवता देता है। इन मन्त्रों का देवत
आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ह
हैं। इच्छा द्वेषादि ४ गुण नैमित्तिक हैं और शरीर के
निमित्त से आत्मा में आये समझे जाते हैं। शरीर की
बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुणों की साक्षी है। शरी
में दो ही प्रकार की इन्द्रियां हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय
ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आत्मा के कर्म गुण के
सार्थक करने के लिये हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभावि
गुण और होता तो शरीर में तीसरे प्रकार का इन्द्रि

समुदाय भी और उस गुण के साधन रूप होने के लिये बना हुआ दृष्टिगोचर होता। अतः आत्मा के स्वाभाविक गुण, ज्ञान और कर्म दो ही हैं। विद्या ज्ञान को कहते हैं जैसा कि कहा जा चुका है और ज्ञान से भिन्न का नाम मन्त्र में अविद्या प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इसलिये स्पष्ट होगया कि अविद्या के यौगिक अर्थ कर्म हैं। अब इन मन्त्रों का अर्थ भी साफ़ होगया कि केवल ज्ञान या केवल कर्म का सेवन करना अन्धकार में पड़ना है सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों का प्रयोग साथ साथ करना चाहिये। वेदों का यह सार्वजनिक सिद्धान्त है, जो तीनों कालों में एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य जीवन का बड़े से बड़ा उद्देश्य है। इसी लिये वेद नित्योपयोगी (Up-to-date) समझे जाते हैं।

मन्त्र की विशेषता।

इन मन्त्रों की एक विशेषता है और यही विशेषता वेदों की महत्ता की द्योतक है वह विशेषता यह है कि अन्तिम मन्त्र में ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है और यह उद्देश्य सब से बड़े बन्धन मृत्यु के बन्धन से पार होकर अमरता को प्राप्त करना है। आधुनिक कर्म और ज्ञान और वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) हैं। इन्साइक्लोपीडिया बृटानिका

(Encyclopaedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

अाधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

अर्थात् इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिये ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन के और दृढ़ करने के काम में लगे हुये हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्व पूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई नई ज़हरीली गैसों की खोज और ईजाद करें। टी० ए० एडीसन (T. A Edison) महाशय, जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि एक ज़हरीली गैस, जो अमरीका में बनाई गई थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है, ऐसी घातक है कि यदि वह एक छोटे हवाई जहाज़ के बेड़े से लण्डन नगर पर जो पृथ्वी का सब से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ७५ लाख के लगभग है छोड़ी जावे तो ३ घंटे में उसे नष्ट कर देगी। अमेरिका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि यह ज़हरीली गैसें अमरीका में ८१० टन, इंगलण्ड में ४१० टन, और जरमनी में २१० टन प्रति सप्ताह तय्यार होती हैं। ये सब गैसें इसी लिये जमा

की जा रही हैं कि भावी अनिवार्य युद्ध में शीघ्र से शीघ्र अधिक से अधिक मनुष्यों का संहार किया जा सके। अस्तु, हमने देख लिया कि उद्देश्य रहित होने से आधुनिक पश्चिमी जगत् के ज्ञान और कर्म किस प्रकार प्राणियों के संहार करने के यत्न में लगे हुये हैं, जब कि वेदों के ज्ञान और कर्म मनुष्यों को अमर बनाने का उत्कृष्टतम साधन हैं।

ज्ञान से कर्म की विशेषता।

पहले मंत्र में एक और भी बात है जिस पर ध्यान देना चाहिये और वह बात यह है कि मन्त्र में कहा गया है कि जो केवल ज्ञान का सेवन करते हैं वह उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता परन्तु कर्म जितना भी करेगा, चाहे वह कितना ही उलटा सीधा क्यों न हो उसका कुछ न कुछ फल अवश्य मिलता है। इस लिये उपनिषद् की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊंचा स्थान है, यह बात कभी किसी आध्यात्मिक विद्या के विद्यार्थी को भूलनी नहीं चाहिये।

मनुष्य के पहले कर्त्तव्य का विधान विद्या अविद्या सम्बन्धी तीन मंत्रों में कर दिया गया—इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिये इसका वर्णन आगे के तीन मन्त्रों में किया गया है। इन मन्त्रों का भाव समझना और उन में वर्णित शिक्षानुकूल आचरण करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। इन दो कर्त्तव्यों से भिन्न मनुष्य जीवन का और कोई

भी ऐसा कर्त्तव्य जो उसके कल्याण के लिये अपेक्षित हो बाकी नहीं रहता। इन्हीं में सबका समावेश है। दूसरे कर्तव्य के विधायक तीन मन्त्र ये हैं:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

भावार्थ—(ये) जो (असम्भूतिम्) कारणप्रकृति =कारण शरीर को (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) सेवन करते हैं वे (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (य, उ) और जो (सम्भूत्याम्) कार्य्य प्रकृति=सूक्ष्म शरीर+स्थूल शरीर में (कारण शरीर की उपेक्षा करके) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूय,इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

भावार्थ—(सम्भवात्) कार्य्य प्रकृति = सूक्ष्म + स्थूल शरीर से (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) और कारण प्रकृति = कारण शरीर से (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं—(इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के वचन (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे लिये (तत्) उन वचनों का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

भावार्थ—(यः) जो कोई (सम्भूतिम्) कार्य्यरूप प्रकृति=सूक्ष्म+स्थूल शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति=कारण शरीर (तत्+उभयम्) उन दोनों के (सह) साथ साथ (वेद) जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (सम्भूत्या) कार्य शरीर से (अमृतम) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है ।

व्याख्या

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है । सम्भूति कार्य-प्रकृति और असम्भूति कारण-रूप प्रकृति को कहते हैं । परन्तु ये असम्भूति और सम्भूति जब आत्मा से सम्बन्धित होती हैं, तब इनके अर्थ कारण और कार्य शरीर होते हैं । कारण शरीर की कल्पना घटाकाश मठाकाशवत् है । जगत् में व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है—कार्य शरीर दो हैं, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीनों के काम पृथक् पृथक् हैं—

[१] स्थूल शरीर—सूक्ष्म शरीर का साधन है । उसी के द्वारा विषयमय जगत् से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होता है । स्थूल शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिकोन्नति

होती है। राममूर्ति और सेण्डो आदि इसके उदाहरण हैं।

[२] सूक्ष्म शरीर – १७ वस्तुओं के समुदाय का नाम है।

५ ज्ञानेन्द्रिय

५ सूक्ष्म विषय = तन्मात्रा [शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध]

५ प्राण [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान]

१ मन

१ बुद्धि

योग १७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मानसिकोन्नति होती है। यही मानसिकोन्नति किये हुये पुरुष जाति के नेता, राजा और उच्च राज्यकर्मचारी हुआ करते हैं और कारण शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईशप्रेम आता है और वह भक्त और योगी बना करता है। आशय यह है कि तीनों प्रकारके शरीर उन्नत होने चाहियें। शरीरों का इतना विवरण जान लेने से इन मंत्रों के अर्थ समझ लेने में सुगमता हो जाती है। मंत्र कहता है कि यदि केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हो अन्य शरीरों की उपेक्षा करके तो अन्धकार में पड़ना पड़ेगा क्योंकि बिना स्थूल और सूक्ष्म शरीर के उन्नत हुये उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर=स्थूल+ सूक्ष्म शरीरों को उन्नत करना चाहते हो तोभी भविष्य अन्धकारमय होगा क्योंकि इस

न नास्तिकता उत्पन्न होगी जैसे चारवाक और यौरुप के कृतिवादी नास्तिक विद्वान्। इसी लिये तीसरे मंत्र में सिद्धान्त और कर्त्तव्य रूप से यह शिक्षा दी गई है कि दोनों कार के शरीरों की उन्नति साथ २ होनी चाहियें तभी मृत्यु न्धन छूट सकता है। मृत्यु का बंधन किस प्रकार छूट सकता है, यही अन्तिम प्रश्न है जो इन मंत्रों के सम्बंध में उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर सुगमता से समझ में आजावे इसलिये म इन शरीरों का यहां एक कल्पित चित्र नीचे देते हैं।

तीन शरीरों का चित्र

स्थूल शरीर = अन्नमय कोश

सूक्ष्म शरीरां =
१ प्राणमय
२ मनोमय
३ विज्ञानमय कोश

कारण शरीर = आनन्दमय कोश

स्वप्नावस्था के द्वारा सूक्ष्म + कारण शरीरां का सम्बन्ध

जागृतावस्था के द्वारा सूक्ष्म + स्थूल शरीरां का सम्बन्ध

प्राण के द्वारा स्थूल + सूक्ष्म शरीर का संबंध

इन्हीं तीनों शरीरों का विभाग एक और प्रकार से किया गया है जिन्हें कोश कहते हैं उसका विवरण इस प्रकार है:—

(१) स्थूल शरीर=अन्नमय कोश

(२) सूक्ष्म शरीर= १ प्राणमय, २ मनोमय, ३ विज्ञान मय कोश

(३) कारण शरीर=आनन्दमय कोश

योग—

३ शरीर=५ कोश

इन तीनों शरीरों के दो सम्बन्ध हैं:—

(१) अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्ध

(२) प्राण के द्वारा सम्बन्ध

पहले सम्बन्ध पर विचार

पहला सम्बन्ध जागृतादि तीन अवस्थाओं के द्वारा होता है जिनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) जागृतावस्था—इस अवस्था में तीनों शरीरों का सम्बन्ध बना रहता है।

(२) स्वप्नावस्था—इस में सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर का सम्बन्ध बना रहता है इसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों का व्यापार तो बंद होजाता है परंतु मन का कार्य्य

जारी रहता है इसीलिये मनुष्य इस अवस्था में स्वप्न देखा करता है।

(३) सुषुप्तावस्था—इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्बंध भी टूट जाता है और तीनों शरीरों में से किसी दो का भी सम्बंध बाक़ी नहीं रहता।

इन अवस्थाओं और उनके सम्बंध के रहने न रहने पर विचार करने से एक परिणाम है, जिस पर प्रत्येक विचारक को पहुंचना पड़ता है और वह परिणाम यह है कि शरीरों के इन संबंध के टूटने से मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त हुआ करती है। जिस समय मनुष्य जागृतावस्था के कामों से थक कर सो जाता है, तो स्थूल शरीर का व्यवहार बंद हो जाने से उसे कुछ आराम मिलता है परंतु जब मन भी थक जाता है तब मनुष्य स्वप्नावस्था से निकल कर सुषुप्तावस्था में पहुंच जाता है और इस अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द हो जाने से उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाया करती है। इससे यह बात भली भांति समझ में आ जाती है कि जब एक (जागृत—स्वप्नावस्था का) सम्बन्ध टूटा था तो कुछ आराम मिला था परन्तु जब दोनों सम्बन्ध (तीनों शरीरों के) टूट गये तो मनुष्य को पूरा सुख और आराम मिला। इसीलिये विद्वान् सुषुप्तावस्था को मुक्तावस्था का आंशिक उदाहरण रूप समझा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुख प्राप्त हुआ करता है।

दूसरे सम्बन्ध पर विचार

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद अब दूसरे सम्बन्ध पर विचार कीजिये दूसरा सम्बंध स्थूल और सूक्ष्म शरीर का एक मात्र प्राण द्वारा सम्बन्ध है जिस सम्बंध के बने रहने का नाम जीवन और टूटने का नाम मृत्यु है। पहले सम्बंध पर विचार करते हुये हमने देख लिया है कि सम्बंधों के टूटने से सुख प्राप्त होता है उसी परिणाम को लक्ष्य और उदाहरण में रखते हुये दूसरे सम्बंध पर विचार करें तो सुगमता से यह बात समझ में आ जायगी कि यदि वह दूसरा सम्बंध भी टूट जावे तो उसका परिणाम भी यही निकलेगा कि मनुष्य को सुख मिले। इस कल्पना के लिये कि इस दूसरे सम्बंध के टूटने से मनुष्य को दु:ख होगा संसार में कोई उदाहरण ही नहीं है इसीलिये दूसरे सम्बंध का टूटना रूप मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है। यही उच्च शिक्षा है जो उपनिषद् दुनिया को देना चाहती है। इस परिणाम पर मनुष्य तभी पहुँच सकता है जब वह इन तीन मन्त्रों में वर्णित कारण और कार्य्य तीनों प्रकार के शरीरों को अपने पुरुषार्थ का क्षेत्र समझ कर पहले कर्त्तव्य का पालन करते हुये उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। और उस ज्ञान को कार्य्य में परिणत करे। उस यथार्थता की प्राप्ति के लिये प्राणायाम मुख्य साधन है उससे कार्य्य शरीरों का पूरा २ विकास हुआ करता है।

इसी लिये उसका कुछ विवरण यहां दिया जाता है।*

प्राणायाम से शारीरिकोन्नति किस प्रकार होती है इस बात के जानने के लिये एक दृष्टि शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्यों में से हृदय और फेफड़े के कार्यों पर डालनी होगी।

हृदय का स्थूल कार्य

इस शरीर में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नाड़ियां हैं। एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं, और दूसरी नाड़ियां वे हैं जो हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहिली नाड़ियां शिरा और दूसरी धमनियां कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिये हृदय में लाया करें। हृदय इस रक्त को शुद्ध करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है, उस का हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में इस का प्रयोग होता है। और प्रयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है, उस में कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ओषजन (oxygen) काफ़ी मात्रा में रहता है, परंतु काम में आने से जब यह अशुद्ध होजाता है तब उस में ओषजन की मात्रा नाम मात्र रह जाती है, और उसकी जगह एक

---

* प्राणायाम का विवरण यहां उदाहरण के तौर पर दिया गया है जिस से समझ लिया जावे कि किस प्रकार शरीरों का ज्ञान प्राप्त करके कार्य में परिणत करना चाहिये।

विषैली वायु (Carbonic acid gas) रक्त में आजाती है। और इसी परिवर्तन में रक्त का रङ्ग मैला स्याही के समान हो जाता है।

फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं के द्वारा पहुंचता है तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम आरम्भ होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भांति असंख्य छोटे २ कोशों (cells) का समुदाय है। एक शरीर में वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि यदि लम्बाई चौड़ाई में फेफड़ों के कोशों (घटकों) को फैला दिया जावे तो उन का विस्तार चौदह सहस्र वर्गफ़ीट होगा। वे कोश एक मांस पेशी (डायफ़्राम) की चाल से खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब यह कोश खुलते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर उसे भर देते हैं। अब इन कोशों में इस प्रकार से अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एक होगये हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिस में जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्ध वायु ओषजन नहीं है और श्वास के द्वारा लिये हुए वायु में कार्बन वायु नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तो उसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु निकल कर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओषजन

निकल कर रक्त में चला आता है फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त तो हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु निःश्वास द्वारा बाहिर निकल आता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है? एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिये फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आना बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से हृदय में एक धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कन एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। भिन्न अवस्थाओं में आयु के अन्तर से धड़कन की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आम तौर से एक सेकिण्ड से कम समय में एक बार रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता और शुद्ध होकर वापिस चला जाता है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है और इतना ही रक्त शुद्ध हो कर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। धड़कन से आवाज़ 'लूब' 'डप' के उच्चारण जैसी होती है। जब हृदय संकुचित होकर रक्त निकलता है तो लूब के सी ध्वनि होती है। और फैल कर जब रक्त ग्रहण करता है तो डप शब्द की सी ध्वनि होती है इन दोनों ध्वनियों में

समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुये से ही मालूम होते हैं और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख्याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में जावे। परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचे अथवा सब कोषों में जहां रक्त पहुँच चुका हो शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा? फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं (१) एक ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है। (२) मध्यभाग जो इधर उधर हृदय के दोनों ओर है। (३) निम्न भाग जो डायफ्राम (मांसपेशी) के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, इसीलिये फेफड़े के सब भागों अथवा सब भागों के समस्त कोषों में नहीं पहुँचता। जब फेफड़े के ऊपरी भागों में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुँचता तो ऊपरी भाग फेफड़े का रोगी होना शुरू होता है और उसके इस प्रकार त्रुटिपूर्ण हो जाने से एक रोग हो जाता है जिसको ट्युबर क्यूलोसिस (Tuberculosis) कहते हैं और जब इसी प्रकार मध्य और निम्न भाग फेफड़ों के बेकार और त्रुटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खांसी, दमा, निमूनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं, होने लगते हैं इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुंचने से जहां एक ओर फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं तो—

"एक और भयंकर परिणाम"

दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि
य से जो रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता है वह
ना शुद्ध हुए अशुद्ध ही हृदय में वापिस चला जाता है।
य भी उसे रोक नहीं सकता। वहां से यह धमनियों
द्वारा समस्त शरीर में पहुंचता है। इसका फल रक्त
कार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज
खुजली = खारिश) से लेकर भयङ्कर रोग कुष्ट तक हो
ता है। इसलिए इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिए
वश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई
ा (कोष) उन में ऐसा न रहने पावे जहां वायु न पहुंच
के। यहीं से प्राणायाम की ज़रूरत शुरू होती है।

प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा मनुष्य के भीतर जब वह श्वास
कर रोक देता है तब श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न
जाती है। उसका फल यह होता है कि श्वास भीतर लेते
मय श्वास वेग के साथ तेज़ हवा वा आंधी के सदृश हो
र फेफड़े में पहुंचता है और जिस प्रकार आंधी वा तेज़
ा नगर के कोने २ में प्रवेश करती हैं इसी प्रकार वेग के
थ श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु फेफड़े के एक
क कोष तक पहुंच जाता हैं और उस से न तो फेफड़े ही
कोई विकार होने पाता है और न रक्त ही दूषित होने

पाता है। अस्तु, देख लिया गया कि प्राणायाम शरीर की उन्नति का हेतु ही नहीं किन्तु मुख्य हेतु है। इस लिये स्वस्थ रहने के लिये प्रत्येक नर नारी के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम किया करें। यह शारीरिकोन्नति का विवरण हुआ। इसी प्रकार इससे मानसिकोन्नति भी होती है। निदान दोनों प्रकार के कर्तव्य प्राणायाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

दोनों कर्त्तव्यों पर दृष्टि

उपर्युक्त छओं मन्त्रों पर दृष्टिपात करने से जिनमें दोनों कर्त्तव्यों का विधान है, एक और बात भी विचार में आती है और वह यह है कि इन दोनों कर्त्तव्यों को सफलता के साथ २ पालन करने से मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटता और अमरता प्राप्त करता है। परन्तु थोड़ा भी सोचने से यह बात समझ में आ जाती है कि मृत्यु के बन्धन का छूटना और अमरता प्राप्त करना असल में दोनों का भाव एक ही है। इसलिये मन्त्रों का स्पष्ट भाव यह है कि मृत्यु के पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है, न केवल कर्म का, किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय ही से यह बन्धन छूटता है। परन्तु मुक्ति के दो पहलू होते हैं—एक मृत्यु से पार होना जिसे शान्ति या ऋणात्मक (Negative) आनन्द कहते हैं और दूसरी आनन्द प्राप्ति जिसे धनात्मक (Positive) आनन्द कहते हैं। इनमें से पहली बात मृत्यु के बंधन के पार होना तो हमारे कर्म और ज्ञान का परिणाम है परन्तु दूसरी बात धनात्मक आनन्द न हमारे

कर्म का परिणाम है न ज्ञान का। फिर यह किस प्रकार प्राप्त होता है ? कठोपनिषद् इसका उत्तर देती है। उपनिषद् का वह वाक्य यह है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

कठ० १ । २ । २२ ॥

अर्थात् वह परमात्मा, प्रवचन, बुद्धि और बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता (फिर प्राप्त किस प्रकार होता है उपनिषद् का उत्तर है कि) जिस को वह स्वयं स्वीकार कर लेता है उसी पर अपने को प्रकट कर देता है— उपनिषद् के इस वाक्य से यह तो ज्ञात हुआ कि वह आनन्दघन प्रभु अपनी दया ही से उपासकों को प्राप्त हुआ करता है परन्तु वह किस प्रकार किसी को मिला करता है इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य कर्म और ज्ञान को उन्नत करके अपने को उसकी कृपा का पात्र बना लेते हैं तभी वह प्राप्त होजाया करता है। जिस प्रकार एक छोटा बालक जो अभी केवल घुटनों के बल चलता है खड़ी हुई माता के चरणों तक पहुँच गया परंतु इतने से उसकी भूख निवृत्त नहीं होती। जब बालक अपना यत्न समाप्त करके आशा भरी दृष्टि से माता की ओर निहारता है तो माता के हृदय में दया के भाव जाग्रत हो जाते हैं और वह उसे गोद में उठा कर दूध पिला कर शान्त कर देती है। इसी प्रकार

मुमुक्षु जब अपने उन्नत कर्म और ज्ञान से मृत्यु के पार हो जाता है तभी प्रभु दया करके उसे प्राप्त होकर आनन्द रूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर दिया करते हैं। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि—

ईश्वरोपासना के दो भेद हैं

(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।

इन में से सगुणोपासना वह है जिस में ईश्वर की, सगुणता के साथ कि वह न्यायकारी है, दयालु है, आनन्द-स्वरूप है इत्यादि, हृदय में धारणा की जाती है और दूसरी निर्गुणोपासना वह है जिसमें ईश्वर की, निर्गुणता के साथ कि वह अजर है, अमर है, अनादि है, अनन्त है इत्यादि, हृदय में धारणा की जाती है। दोनों उपासनाओं के फल इस प्रकार हैं:—

निर्गुणोपासना का फल

ईश्वर की निर्गुणोपासना का वह प्रभाव उपासक पर पड़ता है जिससे उसमें भी निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है तो वह भी अमर बनता है—इस प्रभाव से उपासक में कुछ आता नहीं, अपितु कुछ जाता है, परन्तु इस जाने ही से प्रसन्नता होती है, इसीलिये इस प्रसन्नता को ऋणात्मक आनन्द कहते हैं। एक जगह उपनिषद् में कहा भी गया है:—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
कठ० १ । ३ । १५ ॥

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का (उसकी निर्गुणता का) निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है। मृत्यु के मुख से छूटना ही ऋणात्मक आनन्द है।

सगुणोपासना का फल

परन्तु जब ईश्वर की सगुणोपासना की जाती है तो ईश्वरीय गुणों के प्रभाव से उपासक को सगुणता की प्राप्ति से आनन्द की प्राप्ति होती। इसका भी प्रमाण है:—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम् ॥
कठ० ५ । १२ ॥

अर्थात् ईश्वर एक, सब का वश में रखने वाला, सर्वव्यापक, एक रूप वाली प्रकृति को अनेक प्रकार का बनाने वाला है उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को चिरस्थायी सुख (आनंद) प्राप्त होता है अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनंद है जो सगुणोपासना से प्राप्त हुआ करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१६॥

भावार्थ-(सत्यस्य मुखम) सत्य का मुख हिरण्मयेन पात्रेण) सुवर्ण के पात्र से (अपिहितम्) ढका हुआ है। (पूषन्) हे पूषन् उस (सत्य धर्माय, दृष्टये) सत्य धर्म के दिखाई देने के लिये (त्वम्) तू (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) हटादे ।

व्याख्या

मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान करते हुये उपनिषद् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि इन कर्त्तव्यों के पालन करने में सचाई (वास्तविकता = Reality) होनी चाहिये अन्यथा इनकी उपयोगिता न रहेगी। परंतु संसार में सचाई के छिपा देने के भी साधन मौजूद हैं, जिन से वह दबा दी जाती है। उन्हीं साधनों की ओर मंत्र में संकेत किया गया है।

सुवर्णमय पात्र (संसार की चमक दमक वाली चीज़ें) ही वे पदार्थ हैं जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य पथ से विमुख कर दिया करते हैं। मनुष्य क्यों चोरी करता है ? धन के लालच से, मनुष्य क्यों किसी को धोका देता, क्यों किसी को ठगता है ? धन के लालच से। मनुष्य क्यों कचहरियों में झूँठी गवाही देता है ? धन के लालच से। अभी पश्चिमी युद्ध के समय पश्चिमी राज्य-कर्मचारियों ने

क्यों झूँठ बोल बोल कर अन्यों को धोका देने को, अपना मन्तव्य और मुख्य कर्त्तव्य बना रक्खा था। इसका भी कारण वही धन का प्रलोभन था।

निदान सत्यता से विमुख होने के ये और इसी प्रकार के प्रलोभन ही हुआ करते है। इसी लिये मन्त्र में प्रार्थना की गई हैं कि हे पूषन् (पालक ईश्वर) इस प्रलोभन का आवरण सत्यता के ऊपर से उठ जावे जिस से सत्यता हम से और हम सत्यता से पृथक् न हों। सत्यता का इतना मान क्यों है, केवल इसी लिए कि सत्यता का ही दूसरा नाम धर्म है। बृहदारारण्यकोपनिषद् में लिखा हैं—"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति (देखो बृहद्० १।४।१४) अर्थात् निश्चय जो धर्म है, वही सत्य है। इसी लिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि धर्म कहता है, और धर्म को कहते हुए कहा जाता है कि सत्य कहता है। परिणाम स्पष्ट है कि सत्य और धर्म दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं, सत्य से धर्म और धर्म से सत्य भिन्न नहीं। एक दूसरी जगह ब्रह्म का नाम 'सत्यम' कहा गया है। ब्रह्म को 'सत्यम्' क्यों कहते हैं? इस लिए कि सत्यम् शब्द ३ शब्दों से बनता है। 'स+ति+ यम्' (देखो बृहद्० ५।१) 'स' जीवका वाचक है 'ति' नाशवान् ब्रह्मारण्ड के लिए 'यम्' जीव और ब्रह्मांड दोनों को नियम में रखने वाला होने से ब्रह्म का नाम है। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही नाम है। सुतराम् अनेक रीति से सत्य की महिमा

उपनिषद् में बखानी गई है। वह 'सत्य' नामक ब्रह्म कहां है? उपनिषद् का उत्तर है, 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्'। बृहद्० ५। १४। ४) अर्थात् वह सत्य ही में प्रतिष्ठित हैं, इसलिये सत्य ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये सत्य से पृथक् नहीं होना चाहिये किन्तु उसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेना चाहिये। इसी लिए उपनिषद् ने इस मन्त्र में चेतावनी दी है कि ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु 'सत्य' आवरण रहित ही रहनी चाहिए और मनुष्य का इसी लिए कर्त्तव्य है कि उस पर सुवर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दे। तभी वह अपने कर्त्तव्यों के पालन करने और उद्देश्य को प्राप्त कर लेने में सफल मनोरथ हो सकता है। कर्त्तव्य विधान के बाद उसकी पूर्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते
रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्व पोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य्य) प्रकाश स्वरूप (प्राजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेजः) और सुखप्रद तेज को (समूह) प्राप्त करा। (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमम्) अत्यन्त मङ्गलमय (रूपम्) रूप है (तत् ते) आपके उस रूप को (पश्यामि) देखता हूं, इसलिये (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं हूँ।

व्याख्या

मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर से, सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द बना देने की याचना की गई है और वे साधन भी, जिन से सच्चित् जीव सच्चिदानन्द बन सकता है, बताये गये हैं और वे ये हैं:—

पहला साधन– ईश्वर के उन गुणों को, जिनका विवरण मंत्र में है, जीव को अपने में धारण करना चाहिए। गुण ये हैं :—

(१) पूषन्—मनुष्य को दीनों का पोषक होना चाहिये; उसका हृदय इतना लचकीला और प्रेममय होजाना चाहिये कि किसी को भी दुखी न देख सके।

(२) एकर्षि—उसे उपासक श्रेणी में अपने गुण और कर्म की दृष्टि से अद्वितीय होने के लिये यत्नवान् होना चाहिये।

(३) यम—उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होना चाहिये। कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके हृदय में नहीं आना चाहिए।

(४) सूर्य्य—उसे अपने अन्तःकरण को अज्ञान के अन्धकार से, जो तमस् और रजस् के रूप में होकर हृदय

को अन्धकारमय गुफा बनाये रखते हैं, स्वच्छ रखना चाहिये और सत्व के प्रकाश से उत्तरोत्तर हृदय को प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिये।

(५) प्रजापति— जिस प्रकार प्रजापति अपनी प्रजाकी रक्षा किया करता है उसी प्रकार का रक्षक बनने का उसे उद्योग करना चाहिये जिस से उसको कभी भयभीत न होना पड़े—

दूसरा साधन— मनुष्य को दुःख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनना चाहिये। यम और नियम के अभ्यासों से उसे साधनसम्पन्नता प्राप्त होगी।

तीसरा साधन—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिए कि प्रेम के समावेश में होते हुए उसे अपनी सुध बुध न रहे। भक्ति और प्रेम की इस पराकाष्ठा अवस्था में वह अपने प्रेम पात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

जब उपासक इन तीनों साधनों से सम्पन्न हो जाता है तभी उसे कह सकते हैं, कि वह मुक्त जीव या सच्चित् से सच्चिदानन्द होगया। मंत्र में यही शिक्षा दी गई है। मनुष्य के कर्तव्य विधान और चितोनी देने के बाद उपनिषद् ने

एक बार फिर उसे याद दिला दिया कि उसका अन्तिम उद्देश्य यह होना चाहिए जिससे उसके कर्त्तव्य का रुख दूसरी ओर न फिर सके:—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् कृतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

भावार्थः— (वायु) शरीरों में आने जाने वाला (अनिलम) जीव (अमृतम्) अमर है परन्तु (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) केवल भस्म पर्यन्त है; इस लिये अन्त समय में (क्रतः) हे जीव (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिबे, स्मर) बल प्राप्ति के लिये स्मरण कर और (कृतम् स्मर) अपने किये हुये का स्मरण कर।

व्याख्या

वेद की इस महत्वपूर्ण शिक्षा का भाव यह है कि मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीर के वियोग का समय आवे तब वह 'ओ३म्' का उच्चारण कर सके। छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका आई है कि एक समय देवकी पुत्र कृष्ण के लिये उनके गुरू आङ्गिरस घोर ऋषि ने

उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो तब उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये–

(१) त्वं अक्षितमसि। (हे ईश्वर आप अक्षित हैं)

(२) त्वं अच्युतमसि। (हे ईश्वर आप अविनश्वर हैं)

(३) त्वं प्राणसंशितमसि। (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं)

उपनिषत्कार का कथन है कि कृष्ण इस उपदेश को सुन कर अपिपास (अन्य किसी उपदेश के लिये तृष्णा रहित) होगये, छान्दोग्योपनिषद् ३। १७। ७) विचारणीय यह है कि जब घोर ऋषि ने कृष्ण महाराज को अन्त समय की एक शिक्षा दी थी तो फिर कृष्ण ने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षा की ज़रूरत नहीं रही। इस प्रश्न को लक्ष्य में रखते हुये जब हम उपर्युक्त मन्त्र पर दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि मन्त्र के दूसरे भाग में दो बातों के स्मरण करने का विधान है, एक ओ३म् दूसरे अपने किये हुये कर्मों का। वेद के समस्त मन्त्र और ऋचायें दो भागों में विभक्त हैं, एक भाग उपदेश रूप में है जिसमें मनुष्यों को उपदेश रूप में अनेक शिक्षायें दी गई हैं जिनके आचरण में लाने से वे अपने को उच्च कोटि का मनुष्य बना सकते हैं। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को कर्म

करने में स्वतन्त्र भी बताया है. इस लिये जो शिक्षायें उपदेश रूप में दी गई हैं, मनुष्य का अधिकार है कि उन्हें ग्रहण करे या न करे, क्योंकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मन्त्रों के दूसरे भाग में जो कुछ है वह नियम रूप में वर्णित हुआ है। जो उपदेश नियम रूप में हैं उन्हें किसी की शक्ति नहीं कि उल्लंघन कर सके। येही नियम हैं जिन्हें प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहते हैं और वे अटल हैं। मंत्र में जो दो उपदेश हैं, उनमें से एक यह कि "ओ३म् क्रतो स्मर" (हे जीव ओ३म् का स्मरण कर) उपदेश रूप में है परंतु दूसरा उपदेश 'कृतं स्मर' (हे जीव अपने किये हुये का स्मरण कर) नियम रूप में है और अटल है। इस शिक्षा को लक्ष्य में रखते हुये जब मनुष्य जीवन पर दृष्टि डालते हैं तब वह भी हमें दो भागों ही में विभक्त दिखलाई देता है। मनुष्य जीवन का पहला भाग उस समय तक रहता है जब तक वह मृत्यु शय्या पर नहीं आता। दूसरा भाग वह है जिस में मनुष्य मृत्यु शय्या पर आकर अन्तिम श्वास लेने की तय्यारी करता और लेता है। जीवन का पहला भाग वह है जिसमें मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें मनुष्य उलटा सीधा जिस प्रकार का भी

चाहे कर्म कर सकता है, परन्तु जीवन के दूसरे भाग में वह स्वतन्त्रता बाकी नहीं रहती। मनुष्य पहले भाग में जिस प्रकार की भी परिस्थिति और प्रभाव में रहता है, दूसरे भाग में जो चित्ररूप होता है, उन्हीं परिस्थितियां और प्रभावों का चित्र खिंचा हुआ दिखाई देता है। यदि एक व्यक्ति ने वित्तैषणा, धन के प्राप्त करने की इच्छा और उद्योग ही में अपना जीवन व्यतीत किया है तो जीवन के अंतिम भाग में इसी का चित्र खिंचेगा। अर्थात् वह धन ही का स्मरण करता हुआ इस दुनिया से कूच करेगा। ग़ज़नी के प्रसिद्ध लुटेरे राजा महमूद का जीवन इस विषय में उदाहरण रूप है। यदि उसने अपना सारा जीवन धन के लिये लूट मार करने में लगाया था तो अन्त में उसी धन के लिये रोता हुआ संसार से गया। यही अवस्था उनकी होती है जिन्हों ने पुत्रैषणा अथवा लोकैषणा में अपना जीवन व्यतीत किया है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जीवन के पहले भाग को जिस प्रकार के भी कार्य में लगाता है अन्त में जीवन के दूसरे भाग में उसे उसका स्मरण करते हुये ही इस दुनिया से जाना पड़ता है।

इतनी व्याख्या के बाद अब उस प्रश्न का सुगमता से समाधान हो जाता है कि क्यों कृष्ण, आचार्य घोर के उपदेश को सुन कर अपिपास हुये। कृष्ण ने समझ लिया कि अंत में "त्वं अक्षितमसि" इत्यादि वाक्य कब मुँह से

निकल सकते हैं जब जीवन के पहले भाग में इनका स्मरण और जप किया हो। इस प्रकार घोर ऋषि का उपदेश केवल अन्त समय का ही एक कर्त्तव्य नहीं था किन्तु सारे जीवन का वह कार्य-क्रम था। जब सारे जीवन का कार्य-क्रम आचार्य्य ने बतला दिया तब फिर कृष्ण को क्या ज़रूरत बाकी रही थी कि वे और भी किसी शिक्षा की आकांक्षा करते। उपनिषद् ने जो शिक्षा मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बंध में ऊपर दी है यदि मनुष्य उसका ठीक रीति से पालन करे तो अवश्य उसकी यही अवस्था होगी कि अंत में वह ओ३म् का स्मरण करते हुये संसार से रुख़सत होगा। यह मंत्र एक प्रकार की परीक्षा का विधान करता है। उपनिषद् की शिक्षा जिस कार्य क्रम से जीवन व्यतीत करने का विधान करती है, यदि मनुष्य उसी के अनुसार चलेगा तो अवश्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा अर्थात् जीवन के दूसरे भाग में ओ३म् का स्मरण करते हुये अंतिम श्वास खींचेगा। यदि उस शिक्षा पर न चलेगा तो कदापि ओ३म् का स्मरण न कर सकेगा। यही परीक्षा की अनुत्तीर्णता होगी। इसलिये प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है, कि इस प्रकार से यत्नवान् हो कि जब परीक्षा का समय आवे तो उत्तीर्णता प्राप्त करे।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

भावार्थ—(अग्ने) प्रकाशस्वरूप (देव) तेजस्वी ईश्वर (राये) ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे मार्ग से हमको (नय) चलाइये । आप (अस्मान्) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्) जानने वाले हैं । (अस्मत्) हमको (जुहुराणम्) उलटे मार्ग पर चलने रूप (एनः) पाप से (युयोधि) बचाइये इस लिये (ते) आपको हम (भूयिष्ठाम्) बार २ (नमउक्तिम्) नमस्कार (विधेम) करते हैं ।

व्याख्या

यह मंत्र उपनिषद् का अन्तिम मन्त्र है । आर्यशैली के अनुसार सारा यत्न करने के बाद अन्त में मनुष्य को ईश्वर की दया ही का आश्रय लेना चाहिये । उसी के अनुसार इस प्रार्थना विधायक मंत्र के साथ उपनिषद् समाप्त होती है । मंत्र में पाप का कैसा सुन्दर लक्षण कर दिया है । पाप क्या है ? उलटे मार्ग पर चलना, इस उलटे पाप के मार्ग पर न चल कर सीधे और पुण्य पथ का पथिक बनने के लिये ईश्वर की ही पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है, वही आदि गुरु है । वही महान् शिक्षक है उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है, इसलिये सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का आश्रय लेना चाहिये ।

इति